मई १९९३ हिंदी पत्रिका में प्रकाशित

धम्मवाणी

सो वेदना परिञ्ञाय दिट्ठे धम्मे अनासवो।
कायस्स भेदा धम्मट्ठो सङ्खं नोपेति वेदगू॥

– सं. नि.-३, वेदनासंयुत्त.

वह धर्मिष्ठ, वेदगू व्यक्ति वेदनाओं का परिपूर्ण रूप से ज्ञान प्राप्त कर, परम सत्य का साक्षात्कार कर, अनास्रव हो, मृत्यु को प्राप्त होता है तो इस नश्वर जगत को पुनः प्राप्त नहीं होता।

आत्म-कथन

भावाभिभूत हो गया !

जिस कट्टर सनातनी घर में जन्मा, पला, उसके कारण बचपन से ही जीवन पर सगुण-साकार की भक्ति का बहुत बड़ा भावावेश-मय प्रभाव पड़ा। गोरखपुर की गीताप्रेस का सारा साहित्य घर में आता रहा; उसकी वजह से भी यह प्रभाव दिनों-दिन गहराता चला गया। किशोर अवस्था तक पहुँचा तो आर्य-समाज के घनिष्ठ सम्पर्क में आया। निर्गुण-निराकार की महत्ता समझ में आने लगी परन्तु सगुण-साकार से सन्निकटता वैसी की वैसी बनी रही। युवावस्था तक पहुँचते-पहुँचते गीता और उपनिषद् का प्रभाव जागने लगा। मूल सनातनी प्रभाव में भी गीता और उपनिषद् मान्य थे ही। आर्य-समाज के प्रभाव ने इसे और सुदृढ़ बनाया। आर्य-समाज की शिक्षा का जो एक बहुत गहरा प्रभाव पड़ा, वह यह था कि पुराणों की पोंगापन्थी मान्यताओं से मन हटने लगा। पौराणिक साहित्य पर छाई हुई पण्डों-पुरोहितों की माया स्पष्ट समझ में आने लगी। महर्षि दयानन्द जी की कृपा से अन्ध-विश्वास की जड़ें हिलने लगीं और बुद्धिवादी मानस प्रबल होता चला गया। जात-पांत का भेदभाव बड़ा बेतुका और हानिकारक लगने लगा। बाल-विवाह और वृद्ध-विवाह का विरोध तथा विधवा-विवाह का समर्थन केवल स्वीकार्य ही नहीं हुआ बल्कि मानस में दृढ़-बद्ध होता चला गया। समाज-सुधार की सभी बातें बहुत प्रिय लगने लगीं। यद्यपि सगुण-साकार की भक्ति जरा भी दुर्बल नहीं हुई और न ही हवन-यज्ञ का कर्म-काण्ड बहुत आकर्षक लगा, परन्तु इसके अतिरिक्त सारी आर्य-समाजी शिक्षा बहुत प्रभावोत्पादक लगी और उसका जीवन पर भरपूर असर पड़ा।

जीवन के तीसरे दशक में सनातनी परम्परा की सगुण-साकार भक्ति तथा आर्य-समाज के सुधारवाद के साथ-साथ कुछ अंशों में गुरुद्वारे से जुड़े रहने के कारण सन्त-साहित्य का आकर्षण भी बढ़ने लगा। एक से हृदय-पक्ष की भावना को प्रबल आहार प्राप्त होता रहा, दूसरे से बुद्धि-पक्ष के तर्क-संगत स्वभाव को। परन्तु बुद्धि को सबसे पौष्टिक आहार उपनिषद् और विशेषकर गीता से मिला। गीता का नियमित पाठ तो पहले और दूसरे दशक में ही करने लगा था परन्तु उसका अर्थ अब तीसरे दशक में ही समझ में आया। इस समझ ने बुद्धि के पक्ष को सम्पुष्ट किया। यद्यपि सगुण-साकार की भक्ति का दौर कायम रहा परन्तु अब वह धीरे-धीरे सकाम से निष्काम की ओर झुकता चला गया। गीता के बारहवें अध्याय ने इस दिशा में बहुत काम किया। गीता ने जीवन को एक नया आदर्श दिया। यह आदर्श पूरा हो तो ही भक्ति 'सच्ची भक्ति' और भक्त 'सच्चा भक्त' होता है। भक्त का जीवन सद्गुणों से भर जाता है। सद्गुण ही भक्ति का अलंकार है, सद्गुण ही भक्त का शृंगार है। चित्त निर्मल हो और सद्गुणों से भरा हो, जीवन निस्संग हो, अनासक्त हो। गृहस्थ रहते हुए इस आदर्श अवस्था तक पहुँचने का लक्ष्य बना। संसारी व्यक्ति होने पर भी न तो लोगों को उद्विग्न, उत्तेजित करूं और न स्वयं लोगों से उद्विग्न, उत्तेजित होऊं।

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।

ऐसा होने के लिए यह परम आवश्यक था कि मैं हर्ष से, आमर्ष से, भय से, उद्विग्नता से, सदा-सर्वथा विमुक्त रहूं, क्योंकि मेरे उपास्य को यही प्रिय है।

हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः।

न मनचाही को पाकर हर्ष-प्रफुल्लित हो उठूं और न अनचाही के संयोग से द्वेष-दूषित हो उठूं। न शोक-मग्न हो जाऊं और न आकांक्षाओं में डूब जाऊं। शुभ और अशुभ दोनों का परित्याग कर सही भक्त बनूं, क्योंकि मेरे उपास्य को ऐसा ही भक्त प्रिय है।

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः॥

–मैं सारी अपेक्षाओं से उन्मुक्त रहूं, मैं शुद्ध बनूं और शुद्ध बने रहने की विद्या में दक्ष बनूं। सारी अवस्थाओं में निस्संग रहूं और इस प्रकार व्यथा, वेदनाओं से दूर रहूं। सभी प्रकार के झगड़ों के आरम्भ करने वाली वृत्ति का सर्वथा त्याग कर दूं, क्योंकि मेरे उपास्य को ऐसा भक्त ही प्रिय है।

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥

गीता के इन और इन जैसे श्लोकों ने मन में एक भाव जगाना शुरू किया कि मैं एक आदर्श भक्त बनूं। केवल षोडशोपचार पूजा कर लेने मात्र से या घंटी बजा कर आरती उतार लेने मात्र से मानव-जीवन की सार्थकता पूरी नहीं होती। आदर्श-जीवन के लिए विशिष्ट मानवीय सद्गुण होने अनिवार्य हैं। जैसे कि –

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः सम दुःख सुखः क्षमी॥

–सब प्राणियों के प्रति द्वेष-रहित रहें। मैत्री और करुणा से भरपूर हों। ममता की आसक्ति से दूर हों, अहंकार से भी मुक्त हों और सुख-दुःख की दोनों अवस्थाओं में समत्व बुद्धिवान हों और क्षमावान हों।

यह बात खूब समझ में आने लगी कि **सर्वत्र समबुद्धयाः** होने से **सर्वभूतहिते रताः** होने से, **वीतरागभयक्रोधः** होने से और **समदुःखसुखं** होने से ही **अमृतत्वाय कल्पते,** अमृतत्व प्राप्त करने योग्य होता है।

यह भी समझ में आने लगा कि इन ऊंची अवस्थाओं तक पहुँचने के लिए प्रमुखता समता की है। सिद्धि हो या असिद्धि हो, लाभ हो या अलाभ हो, जय हो या पराजय हो; सारी अवस्थाओं में **समोभूत्वा** होना अनिवार्य है। **समत्वं योग उच्यते** –समता की इस उच्च अवस्था को ही योग कहते हैं और कर्मयोगी वही है जो इस उच्च अवस्था में स्थापित होकर कुशलतापूर्वक कर्म करता है क्योंकि **योगः कर्मसु कौशलम्**

और यह तभी सम्भव है जबकि प्रज्ञा जगे और प्रज्ञा में पूर्णतया स्थित हो जांय याने **स्थितप्रज्ञ** हो जायें। **स्थितप्रज्ञ** हो गये तो समता में स्थित हो ही जायेंगे, निस्संग, निस्पृह, निरासक्त हो ही जायेंगे, वीतराग, वीतभय, वीतक्रोध हो ही जायेंगे, प्रिय और अप्रिय के प्रति **नाभिनन्दति न द्वेष्टि** की अवस्था प्राप्त हो ही जायेगी।

पर **स्थितप्रज्ञ** बनें कैसे? **वीतराग, वीतद्वेष** बनें कैसे? **निर्ममोनिरहंकारः** बनें कैसे? स्थितप्रज्ञ बनना अच्छा है, विकार-विमुक्त बनना अच्छा है, यह तो समझ में आ गया। परन्तु इस उपलब्धि के लिए कोई मार्ग नहीं सूझता था।

मैं बार-बार आत्म-निरीक्षण करके देखता। कहां स्थितप्रज्ञता का हिमालय सा ऊंचा आदर्श और कहां पतनोन्मुखी, नारकीय विकारों से भरपूर मानस। थोड़ी देर भक्ति-भाव में आर्द्र हो जाना अच्छा लगता था और यों लगता था जैसे मानस निर्मल हो गया है। थोड़ी देर गीता के आदर्शों का मनन कर लेना अच्छा लगता था और उससे भी यों लगता था मानो मन निर्मल हो रहा है। पर यह सब थोड़ी सी देर का अनुभव होता, फिर वैसे का वैसा अहंकार का सुमेरु, क्रोध का ज्वालामुखी और काम-वासना का अगाध गर्त। जीवन का यह निन्दनीय पक्ष प्रबल हो उठता और मैं अपने आपको असहाय, अबल, युद्ध-भूमि में पराजित योद्धा सा निस्तेज, निष्प्रभ महसूस करता। तब बड़ा दुःख होता। बड़ी आत्म-ग्लानि होती, बड़ी आत्म-पीड़ा होती। पर सिवाय अपनी अपराध ग्रन्थि को बढ़ाने के और कर ही क्या सकता था। बहुत प्रकार के प्रयत्न करके देख लिये। न ही भावार्द्र-भाविनी भक्ति और न ही गीता के उच्च आदर्श का बुद्धि के स्तर पर चिन्तन मनन –काम, क्रोध और अहंकार को दूर कर सकने में समर्थ थे। भूख थी किसी विधि की जो इन विकारों की जड़ें खोद सके; खोज थी ऐसे मार्ग की जिस पर चल कर वस्तुतः स्थितप्रज्ञता की उपलब्धि हो सके।

ऐसी मनोदशा में माइग्रेन के सिरदर्द का अभिशाप वरदान बन कर सामने आया। इसी ने परम आदरणीय गुरुदेव ऊ बा खिन से सम्पर्क हो सकने का सुयोग बनाया। गुरुदेव से सम्पर्क हुआ तो एक आदर्श गृही-सन्त से सम्पर्क हुआ और उन्हीं के जरिये शुद्ध धर्म से सम्पर्क हुआ। उनकी आश्वासन भरी वाणी से बड़ा सम्बल मिला। दस दिनों के शिविर में इसलिए नहीं शामिल हुआ कि इससे मेरा माइग्रेन का रोग ठीक हो जाएगा, बल्कि इसलिए शामिल हुआ कि जैसे यह सन्त कहते हैं वैसे विकार-विमुक्ति का साधन मिल जाएगा। यह तो पराया धर्म है, यह तो नास्तिकों का धर्म है –मन में उठी हुई ऐसी हिचक को एक ओर करके इस विद्या को दस दिन आजमा कर देखना है, इस दृढ़ निश्चय के साथ शिविर में सम्मिलित हुआ।

काम शुरू करते हुए तीन रत्नों की शरण ली। इसमें मुझे भला क्या एतराज हो सकता था। भगवान बुद्ध हमारे देश के एक ऐतिहासिक महापुरुष हुए, उनके प्रति मन में अपार श्रद्धा के भाव थे ही। धर्म जो कि विकारों से मुक्ति दिलाने का दावा करता है वह स्वीकार्य था, तो ही शिविर में सम्मिलित हुआ। संघ के माने वे सन्त पुरुष जो धर्म के रास्ते चल रहे हैं, उनमें भिक्षु भी हो सकते हैं, गृहस्थ भी। बर्मा में रहते हुए अनेक सन्त भिक्षुओं से मिला था, उनसे बातचीत की थी। उन पर श्रद्धा ही जागी थी। गृहस्थ सन्तों में साक्षात गुरुदेव को देखा जिनकी मैत्री और करुणा किसी को भी अपनी ओर आकर्षित कर लेती थी। ऐसे सत्पुरुषों की शरण में क्या हिचक होती भला!

तदनन्तर पांच शील लिए। उनसे मन बहुत प्रसन्न हुआ। शील-सदाचार तो धर्म का आधार है।

तदनन्तर आत्म-समर्पण किया भगवान बुद्ध के प्रति और गुरुदेव के प्रति। समर्पित भाव से ही शिविर में सम्मिलित हुआ था। यह विद्या मूलतः भारत की पुरातन विद्या होते हुए भी मेरे लिए सर्वथा नई थी, अतः उसे आजमा कर देखने के लिए समर्पित भाव उपयुक्त ही था।

तदनन्तर धर्म की याचना की गई। गुरुदेव ने समझाया कि धर्म जैसा अनमोल रत्न बिना मांगे किसी को नहीं दिया जाता। किसी पर जबरन नहीं थोपा जाता। यह सुन कर बड़ा सुखद आश्चर्य हुआ। पुरातन भारत की कितनी स्वच्छ परम्परा है यह। इसके मुकाबले लोग कैसे बलपूर्वक अथवा लोभ द्वारा अपने-अपने सम्प्रदाय में बांधते हैं। इनका उससे कोई मुकाबला नहीं।

काम शुरू करने पर पहले आनापान कराई गई। वही बड़ी रास आई। मन टिकने लगा और पहले ही दिन नासिका के नीचे, ऊपर वाले होठ के ऊपर स्पष्ट संवेदना महसूस होने लगी। थोड़ी सी प्रारम्भिक कठिनाई के बाद साधना गम्भीरतापूर्वक होने लगी और विपश्यना मिलने पर तो सारे शरीर का अणु-अणु चेतन हो उठा, सजीव हो उठा। बड़ा चमत्कारिक अनुभव हुआ। संवेदनाओं को अनुभूतियों के स्तर पर अनित्य समझते हुए, उन्हें तटस्थ भाव से देखना आसान हो गया। गुरुजी ने समझाया कि आनापान करते हुए शुद्ध स्वाभाविक सांस का आलम्बन और विपश्यना करते हुए इन शारीरिक संवेदनाओं का आलम्बन अन्तर्मन के विकारों के निष्कासन में बहुत सहायक होता है। अन्तर्मन का सुखद संवेदनाओं के प्रति राग और दुःखद के प्रति द्वेष उत्पन्न करने का स्वभाव पलटता है। सुखद-दुःखद दोनों के प्रति समत्व भाव पुष्ट होता है। उन्होंने समझाया कि अन्तर्मन सतत् शारीरिक संवेदनाओं से जुड़ा रहता है और पुराने स्वभाव के अनुसार राग या द्वेष की प्रतिक्रिया

करता रहता है। मन की जड़ों का यह स्वभाव ही पलट जाय तो विकारों की समस्या का समाधान स्वतः हो जाय। काम, क्रोध और अहंकार का जहां उद्गम होता है वहीं अन्य सभी विकारों का उद्गम होने लगता है। काम, क्रोध और अहंकार का जहां निष्कासन होने लगता है वहीं अन्य विकारों का भी निष्कासन होने लगता है।

सभी बातें इतनी न्याय-संगत, तर्क-संगत, बुद्धि-संगत लगीं और यही नहीं, अनुभूतियों पर उतरने लगीं तो भावाभिभूत हो उठा। अरे, इसी की तो खोज थी। गीता आदि ग्रन्थ जिस स्थितप्रज्ञता का इतना बखान करते हैं उसका व्यावहारिक, प्रयोगात्मक पक्ष प्राप्त हो गया। उनमें तो कोरे उपदेशों की ही बात थी और उस आदर्श अवस्था के गुणगान की ही बात थी, यहां तो वह प्रत्यक्ष कराया जाता है। जैसे कोई रसगुल्ले के मीठेपन का गुणगान करे और दूसरा रसगुल्ला जबान पर धर दे तो दोनों का कोई मुकाबला नहीं, कोई तुलना नहीं। बुद्धि से अनुभूति कई गुना बेहतर होती है। बुद्धि की अपनी सीमा है परन्तु अनुभूति असीम है। सीमित बुद्धि के स्तर पर स्थितप्रज्ञता की बात कोई कैसे समझेगा भला! जब प्रज्ञा शब्द ही समझ में नहीं आया तो स्थितप्रज्ञता को समझेगा कैसे? उस अवस्था तक पहुँचने की बात तो बहुत दूर की है। प्रज्ञा कहते हैं प्रत्यक्ष ज्ञान को। प्रत्यक्ष ज्ञान बुद्धि के स्तर पर नहीं होता, स्वानुभूति के स्तर पर होता है। बुद्धि तो परोक्ष ज्ञान पर ही चिन्तन मनन करती है जो कि प्रत्यक्ष ज्ञान से दूर है। ज्ञान के ये तीनों सोपान समझ में आ गये – श्रुत ज्ञान, चिन्तन ज्ञान और प्रज्ञान याने प्रत्यक्ष ज्ञान – स्वानुभूतिजन्य ज्ञान। और विपश्यना स्वानुभूतिजन्य प्रत्यक्ष ज्ञान ही करवाती है, उसी को महत्व देती है। इसी कारण पहले ही शिविर में विपश्यना ने मुझे भावाभिभूत कर लिया।

भदन्त आनन्द कोसल्यायन जी ने एक बार अपने, राहुल जी के एवं काश्यप जी के अनुभवों के बल पर विनोदपूर्वक कहा था कि जब कोई सनातनी वातावरण से, आर्य समाजी वातावरण में प्रवेश करता है तो उसका प्रमोशन हो जाता है और जब आर्य समाज से बुद्ध की शिक्षा की ओर बढ़ता है तो डबल प्रमोशन हो जाता है। सचमुच मेरा डबल प्रमोशन हुआ। मैं धन्य हुआ, मेरा जीवन धन्य हुआ, जीवन की धारा ही बदल गई। परम मांगल्य लिए हुए बदल गई।

धर्म-पथिक,
स. ना. गो.